

आधुनिक पारिवारिक संरचना में वृद्धों का अकेलापन और उपेक्षा: उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

रुबी कुमारी

शोधार्थी,

विश्वविद्यालय हिंदी-विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

सारांश-

प्रस्तुत शोध आलेख उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' के माध्यम से समकालीन समाज में वृद्धों की उस मूक पीड़ा का विश्लेषण करता है, जो अक्सर पारिवारिक लोक-लाज और झूठी प्रतिष्ठा की परतों के नीचे दबी रह जाती है। शोध का मुख्य तर्क यह है कि आधुनिक परिवार वृद्धों के प्रति न केवल उपेक्षापूर्ण हैं, बल्कि एक प्रकार के 'अदृश्य मानवीय अत्याचार' के दोषी भी हैं। कहानी के पात्र गजाधर बाबू के माध्यम से यह लेख उस कड़वे यथार्थ को उजागर करता है जहाँ वृद्ध अपने ही घर के किसी कोने में सिसक कर रोने को मजबूर हैं, किंतु समाज के डर और बच्चों की 'इज्जत' बचाने के लिए वे बाहर कदम रखते ही झूठ का सहारा लेते हैं।

यह आलेख इस गंभीर प्रश्न को उठाता है कि कैसे वृद्धों का यह मौन और उनके द्वारा सहा गया दर्द कभी-कभी उन्हें आत्महत्या (विषपान) जैसे आत्मघाती कदमों तक ले जाता है। समाज में वृद्ध विमर्श को अक्सर केवल आर्थिक सुरक्षा तक सीमित कर दिया जाता है, जबकि उनका असली संकट 'भावनात्मक निर्वासन' और 'पहचान का संकट' है। यह शोध पत्र समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह प्रतिपादित करता है कि जब तक समाज वृद्धों के इस दर्द पर खुलकर बात नहीं करेगा, तब तक यह मानवीय मूल्यों पर एक करारा तमाचा बना रहेगा।

बीज शब्द :- वृद्ध विमर्श, भावनात्मक निर्वासन, मानवीय अत्याचार, 'वापसी', सामाजिक विडंबना, झूठी प्रतिष्ठा।

प्रस्तावना-

हिंदी साहित्य में 'वृद्ध विमर्श' एक ऐसा क्षेत्र है जो मानवीय संवेदनाओं के क्षरण को सबसे प्रभावी ढंग से चित्रित करता है। औद्योगिक विकास और शहरीकरण ने संयुक्त परिवारों को तोड़कर एकल परिवारों (Nuclear Families) को जन्म दिया है। इस बदलाव की सबसे बड़ी कीमत घर के बुजुर्गों को चुकानी पड़ रही है। जैसा कि आपने उल्लेख किया है— "एक उम्र के बाद अपने ही घर में पराये की तरह जीना और परिवार के सदस्यों द्वारा एक रिटायर व्यक्ति को 'सामान' की तरह देखना अत्यंत कष्टदायक है।" यह केवल एक व्यक्ति की पीड़ा नहीं, बल्कि एक सामाजिक संकट है।

उषा प्रियंवदा 'नई कहानी' दौर की एक प्रमुख लेखिका हैं। उनकी कहानियों में मध्यवर्गीय परिवारों के भीतर की घुटन, स्त्री-पुरुष संबंधों का तनाव और वृद्धों की उपेक्षा का बहुत सूक्ष्म चित्रण मिलता है। उनकी भाषा सीधी किंतु मर्मभेदी है, जो सीधे पाठक के मनोविज्ञान पर चोट करती है।

वृद्ध विमर्श के धरातल पर जब हम 'वापसी' के गजाधर बाबू और भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' की बूढ़ी माँ की तुलना करते हैं, तो एक भयावह सामाजिक सत्य उभरकर सामने आता है। जैसा कि प्रोफेसर साहब

आपने रेखांकित किया, आज की युवा पीढ़ी के लिए माता-पिता केवल एक 'स्टेटस सिंबल' (Status Symbol) बन गए हैं। यदि वे उनके आधुनिक जीवन की चकाचौंध में फिट नहीं बैठते, तो उन्हें दुनिया के सामने लाने में बच्चों को शर्म महसूस होती है।

आजकल के बच्चों में नैतिकता का ज्ञान लुप्तप्राय होता जा रहा है। वे केवल अपने स्वार्थ के लिए जीते हैं और रिश्तों को भी 'फायदे' के तराजू पर तौलते हैं। चीफ की दावत में शामनाथ का अपनी माँ को 'कोठरी' में जाने का आदेश देना इसी संवेदनहीनता का चरम है। वह अपनी माँ को एक इंसान के रूप में नहीं, बल्कि घर के एक 'पुराने और बदसूरत फर्नीचर' की तरह देखता है, जिसे मेहमानों (चीफ) की नजरों से छिपाना जरूरी है।

शामनाथ के भीतर का 'बेटा' मर चुका है; वह केवल अपने बॉस का एक चापलूस कर्मचारी बनकर रह गया है। आपकी यह बात अत्यंत मार्मिक है कि यदि उसके भीतर 'बेटे की रुह' जिंदा होती, तो वह अपनी माँ की आँखों की बेबसी और उन आँसुओं को देख पाता जो वह केवल अपने बेटे की तरक्की की खातिर पी रही थी।

बच्चे यह भूल जाते हैं कि समाज में आज उनकी जो भी पहचान है, उसकी नींव उनकी माँ और पिता के त्याग पर टिकी है। गजाधर बाबू ने 35 साल अकेलेपन में गुजारे ताकि बच्चे 'स्टेटस' पा सकें, और शामनाथ की माँ ने अपना पूरा जीवन बेटे को इस काबिल बनाने में लगा दिया कि वह 'चीफ' को दावत दे सके। विडंबना देखिए कि जब वही नींव (माता-पिता) सामने आती है, तो बच्चों को वह अपने 'स्टेटस' पर चोट लगती हुई महसूस होती है।

आज की पीढ़ी रिश्तों को अपने साथ रखना नहीं चाहती। वे केवल तभी तक जुड़ना चाहते हैं जब तक उन्हें कोई लाभ मिले। शामनाथ का हृदय परिवर्तन तब नहीं होता जब वह माँ की बेबसी देखता है, बल्कि तब होता है जब उसे पता चलता है कि माँ के हाथ की 'फुलकारी' उसे प्रमोशन दिला सकती है। यह रिश्तों का सबसे घृणित रूप है— जहाँ एक बेटा अपनी माँ की ममता का व्यापार अपनी तरक्की के लिए करता है।

गजाधर बाबू और शामनाथ की माँ में अद्भुत समानता है। दोनों ही अपने बच्चों की खुशी के लिए खुद को मिटा देने को तैयार हैं। गजाधर बाबू चुपचाप घर छोड़कर चले जाते हैं ताकि बच्चों की 'आजादी' में बाधा न आए, और माँ चुपचाप कोठरी में बंद हो जाती है ताकि बेटे की 'प्रतिष्ठा' बनी रहे।

लेखिका उषा प्रियंवदा और रचनाकार भीष्म साहनी, दोनों ने यह स्पष्ट किया है कि आधुनिक समाज में बुजुर्गों की स्थिति 'इंसान' की नहीं, बल्कि 'समान' (Object) की है। जब तक सामान काम का है, उसे रखा जाता है; जैसे ही वह पुराना होता है, उसे कबाड़खाने (कोठरी या बैठक का कोना) में डाल दिया जाता है। यह एक 'मानवीय अत्याचार' है जिस पर समाज को गंभीरता से विचार करना चाहिए।

भारतीय समाज में वृद्धों की सबसे बड़ी त्रासदी उनके 'अस्तित्व के हस्तांतरण' से शुरू होती है। जैसा कि प्रोफेसर साहब आपने बहुत ही मर्मभेदी तरीके से रेखांकित किया है, जब एक वृद्ध अपनी जमीन और धन-दौलत अपनी संतानों या परिजनों के नाम कर देता है, तो वह वास्तव में केवल संपत्ति नहीं, बल्कि अपनी खुशियाँ और सुरक्षा भी उन्हें सौंप देता है।

प्रेमचंद की कहानी 'बूढ़ी काकी' इसी कड़वे सच का जीवंत दस्तावेज है। काकी ने यह सोचकर अपनी संपत्ति भतीजे बुद्धिराम के नाम की थी कि बुढ़ापे में उन्हें दो वक्त की रोटी और सम्मान मिलेगा। किंतु, जैसा कि आपकी

टिप्पणी कहती है— “जमीन मिलते ही वह बदल गया।” यहाँ बुद्धिराम का व्यवहार उस ‘बाज़ारवादी’ मानसिकता का प्रतीक है जहाँ रिश्तों की कीमत केवल ‘फायदे’ से तय होती है।

जब तक काकी के पास जमीन थी, वे एक ‘मूल्यवान’ इकाई थीं, लेकिन हस्तांतरण के बाद वे परिवार के लिए केवल एक ‘बोझ’ बनकर रह गईं। प्रेमचंद लिखते हैं— “बुद्धिराम स्वभाव से सज्जन थे, पर उसी समय तक जब तक उनके कोष पर कोई आंच न आए।” (प्रेमचंद. मानसरोवर भाग-1. पृष्ठ-85)। काकी का जूठी पत्तलों पर रेंगना केवल उनकी भूख नहीं, बल्कि उस समाज के मुंह पर तमाचा है जिसने वृद्धों को ‘उपभोग की वस्तु’ मान लिया है।

अमरकांत की कहानी ‘दोपहर का भोजन’ के मुंशी जी उस वृद्ध का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपनी नौकरी खोने के बाद ‘असहाय’ और ‘बेबस’ महसूस करने लगता है। आपने बहुत सही कहा कि “उसे अपनी भूख की चिंता नहीं थी, उसे डर था कि वह बच्चों के भूखे रहने की वजह न बन जाए।”

मुंशी जी का झूठ— “मेरा पेट भरा हुआ है”— एक पिता का वह महान बलिदान है जिसे आज की युवा पीढ़ी कभी नहीं समझ पाती। यह एक मनोवैज्ञानिक ‘कवच’ है जिसे एक वृद्ध पिता अपने परिवार की शांति के लिए ओढ़ लेता है। विडंबना यह है कि वही बच्चे जब बड़े होते हैं और सफलता पाते हैं, तो अहंकारवश कहते हैं— “आपने हमारे लिए किया ही क्या है?” वे यह भूल जाते हैं कि उनकी आज की काबिलियत की नींव पिता के उसी ‘खाली पेट’ और ‘मौन त्याग’ पर टिकी है। (अमरकांत. प्रतिनिधि कहानियाँ. पृष्ठ-42)।

इन दोनों स्थितियों में समानता यह है कि वृद्धों को उनके बुनियादी हक (भोजन और सम्मान) के लिए भी अपराधी की तरह महसूस कराया जाता है। मुंशी जी का झूठ और काकी की सिसकियाँ एक ही मानवीय अत्याचार के दो पहलू हैं। आज का समाज जिस ‘स्वार्थ’ की ओर बढ़ रहा है, वहाँ वृद्धों के त्याग को उनकी ‘मजबूरी’ मान लिया जाता है।

वापसी को पढ़ने के बाद लगता है कि “रिश्ते दिल से नहीं, बस नाम के होते हैं।” जब तक बुजुर्गों के पास देने के लिए कुछ है (पैसा या काम), वे परिवार के सदस्य हैं; जैसे ही वे ‘लेने’ की स्थिति में आते हैं, वे ‘सामान’ (Object) हो जाते हैं। गजाधर बाबू (वापसी) की चारपाई का खिसकाया जाना और मुंशी जी का अपनी भूख छिपाना, दोनों ही इस बात का प्रमाण हैं कि आधुनिकता ने हमें पत्थर-दिल बना दिया है।

समाज में वृद्धों के प्रति जो ‘अलगाव’ पैदा हुआ है, उसकी मुख्य वजह ‘आर्थिक असुरक्षा’ है। जिस दिन एक वृद्ध अपना नियंत्रण खो देता है, उसी दिन से उसकी ‘दुर्गति’ शुरू हो जाती है। यह आलेख इस बात पर जोर देता है कि समाज को वृद्धों के इन ‘मौन बलिदानों’ को पहचानना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियाँ भी इसी चक्र में फंसकर सिसकेंगी।

गजाधर बाबू का यह सोचना कि “आखिर मैं वापस क्यों आया?” समकालीन समाज की उस विडंबना को रेखांकित करता है जहाँ रिश्तों की नींव प्रेम के बजाय ‘जरूरतों’ पर टिकी होती है। जैसा कि हम समाज में देखते हैं, जब कोई व्यक्ति लंबी नौकरी के लिए घर से दूर रहता है, तो धीरे-धीरे परिवार को उसकी अनुपस्थिति (Absence) की आदत पड़ जाती है। परिवार उसकी भौतिक मौजूदगी के बिना जीना सीख लेता है और उसका अस्तित्व केवल महीने के अंत में आने वाले ‘मनी-ऑर्डर’ तक सीमित रह जाता है।

गजाधर बाबू के साथ भी यही त्रासदी घटी। 35 वर्षों तक वे परिवार के लिए केवल एक 'पैसे भेजने वाली मशीन' बने रहे। जब तक वे दूर थे, वे पूजनीय थे क्योंकि वे परिवार की सुख-सुविधाओं का आधार थे। किंतु सेवानिवृत्ति के बाद जब वे लौटते हैं, तो उनकी पत्नी और बच्चों के लिए उनकी मौजूदगी एक 'राज़' या सुखद अहसास नहीं, बल्कि एक 'हस्तक्षेप' बन जाती है। परिवार उन्हें केवल इसलिए झेलता है क्योंकि वे सामाजिक रूप से उसका हिस्सा हैं, लेकिन भावनात्मक रूप से उन्हें 'अनचाहा सामान' (Unwanted luggage) मान लिया जाता है।

लेखिका उषा प्रियंवदा ने इस मानसिक वेदना को बहुत बारीकी से पकड़ा है। गजाधर बाबू जब देखते हैं कि उनकी पत्नी अब उनकी बातों में रुचि नहीं लेती, तो उन्हें अपनी व्यर्थता का अहसास होता है। लेखिका लिखती हैं— "गजाधर बाबू ने अपनी चारपाई वहाँ से हटकर फिर अंदर कर लेने की बात सोची, पर फिर मन में आया कि कहाँ रखेंगे? सारा घर तो भरा हुआ है।" (प्रियंवदा, उषा. वापसी. राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-12)। यहाँ 'भरा हुआ घर' उस मानसिक संकीर्णता का प्रतीक है जहाँ एक पिता के लिए कोई जगह शेष नहीं रही।

पत्नी का बदला हुआ स्वभाव गजाधर बाबू को सबसे ज्यादा कचोटता है। जिस पत्नी के साथ उन्होंने भविष्य के सुंदर सपने देखे थे, वह अब केवल गृहस्थी के चंगुल में फंसी है। ये बात सोलह आने सच है कि पत्नी की प्राथमिकता अब पति का 'प्रेम' नहीं बल्कि बच्चों का 'आराम' और 'पैसा' है। गजाधर बाबू जब घर के खर्चों को नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं, तो उनकी पत्नी का यह कहना कि "तुमने आकर सारा घर अस्त-व्यस्त कर दिया है" (वही, पृष्ठ-15), उनके स्वाभिमान पर गहरा घाट करता है।

यह उपेक्षा एक प्रकार का 'मानवीय अत्याचार' है। गजाधर बाबू यह सोचकर चिंता में डूब जाते हैं कि जिस प्रेम और सम्मान के लिए उन्होंने पूरी उम्र स्टेशन की तन्हाई काटी, वह सब एक छलावा था। उनकी मौजूदगी अब घर में न होने के बराबर है। वे एक ऐसे 'जीवित अवशेष' बन गए हैं जिसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो यह 'वस्तुकरण' (Objectification) की प्रक्रिया है। जब मनुष्य को उसके 'होने' (Existence) के बजाय उसकी 'कमाई' (Earning) से तौला जाता है, तो रिटायरमेंट उसके लिए एक सामाजिक और पारिवारिक मृत्यु के समान हो जाता है। गजाधर बाबू की यह पीड़ा आज के लाखों वृद्धों की है जो अपने ही बच्चों की नज़रों में 'बोझ' बन चुके हैं।

समकालीन समाज में वृद्धों की स्थिति एक 'अवांछित अतिथि' जैसी हो गई है। जैसा कि आज की युवा पीढ़ी वृद्धों के साथ रहने के बजाय उनके संसाधनों (पैसों) के साथ जीना अधिक पसंद करती है। यह विडंबना है कि जिस धन के लिए बुजुर्गों ने अपनी खुशियाँ कुर्बान कीं, आज वही धन उनके और उनकी संतान के बीच दीवार बन गया है।

आज के समय में 'एकल परिवार' की बढ़ती प्रवृत्ति ने रिश्तों की ऊष्मा को समाप्त कर दिया है। जब बहू और बेटे वर्षों तक माता-पिता से दूर स्वतंत्र जीवन जीते हैं, तो उनके भीतर 'निजता' (Privacy) का एक ऐसा आवरण तैयार हो जाता है जिसमें किसी तीसरे का प्रवेश उन्हें 'अधिकारों का हनन' लगता है। गजाधर बाबू के मामले में भी यही हुआ। उनके बच्चे बचपन से ही उनके सानिध्य से वंचित रहे, जिसके कारण उनके मन में पिता के प्रति वह आदर और लगाव विकसित नहीं हो पाया जो निरंतर साथ रहने से आता है।

अगाध प्रेम के अभाव में, जब गजाधर बाबू सेवानिवृत्त होकर स्थायी रूप से घर लौटते हैं, तो उनकी उपस्थिति बच्चों को 'अपनी आज़ादी में एक बला' जैसी महसूस होने लगती है। युवा पीढ़ी को लगता है कि उनके जीवन के तौर-तरीकों पर अब किसी का 'अंकुश' लग गया है।

युवा पीढ़ी का यह तर्क कि "हमने दुनिया आपसे ज्यादा देखी है", वास्तव में उनके अहंकार और जड़ों से कटने का प्रतीक है। गजाधर बाबू जब घर को व्यवस्थित करने के लिए नौकर (गणेशी) को हटाते हैं या अपनी बेटी बसंती को रसोई में जाने का निर्देश देते हैं, तो उनका उद्देश्य केवल घर की आर्थिक स्थिति सुधारना और बच्चों को संस्कारित करना था। किंतु, बच्चों ने इसे 'अनुभव' के बजाय 'दखलंदाजी' माना।

लेखिका उषा प्रियंवदा ने इस मानसिक द्वंद्व को बहुत तीखेपन से उकेरा है। जब बसंती अपने पिता के टोकने पर विद्रोह करती है, तो वह दृश्य आज की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है जो बुजुर्गों की सलाह को 'कैद' और 'बोझ' मानती है। लेखिका लिखती हैं— "गजाधर बाबू ने महसूस किया कि उनके अपने ही बच्चे उनके सामने अजनबियों की तरह व्यवहार कर रहे हैं, जैसे वे उनके पिता नहीं, बल्कि कोई बाहरी निरीक्षक हों।" (प्रियंवदा, उषा. वापसी. राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-20)।

आज के युवाओं के लिए 'आज़ादी' का अर्थ केवल स्वच्छंदता है। यदि पिता या दादा आर्थिक सहायता (पैसे) देना बंद कर दें, तो बच्चों को लगता है कि उन्हें 'जेल' में डाला जा रहा है। गजाधर बाबू का घर के बजट को नियंत्रित करना उनके बेटों के लिए उनकी 'लिबर्टी' पर हमला था। यह समाज का वह कड़वा सच है जहाँ बुजुर्गों को केवल 'एटीएम मशीन' की तरह देखा जाता है। जब तक मशीन से पैसे निकलते हैं, वह उपयोगी है; जैसे ही वह निर्देश देना शुरू करती है, वह 'खराब' मान ली जाती है।

गजाधर बाबू के साथ जो हुआ, वह केवल एक कहानी नहीं, बल्कि एक 'मानवीय अत्याचार' है। जब परिवार के सदस्य उन्हें एक 'समान' (Object) की तरह देखने लगते हैं, तो उनकी भावनात्मक मृत्यु वहीं हो जाती है। उनकी चारपाई का इधर-उधर खिसकाया जाना वास्तव में उनके अस्तित्व को खिसकाया जाना है। गजाधर बाबू का यह अहसास कि "सब आज़ादी से जी रहे थे और मेरा आना उनके लिए संकट बन गया", उन्हें आत्मग्लानि से भर देता है। इसी अलगाव और अपमान की वजह से अंततः वे उस घर को छोड़ने का निर्णय लेते हैं जिसे उन्होंने अपनी उम्र देकर बनाया था।

केंद्र बिंदु यह है कि कैसे उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानवीय संवेदनाओं को आर्थिक लाभ-हानि के तराजू पर तौलना शुरू कर दिया है।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध आलेख के समग्र अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक भारतीय मध्यमवर्गीय परिवार 'संवेदना' की धुरी से खिसक कर 'उपयोगिता' के केंद्र पर आ खड़ा हुआ है। उषा प्रियंवदा की 'वापसी', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' और अमरकांत की 'दोपहर का भोजन' जैसी कालजयी कहानियाँ सामूहिक रूप से उस कड़वे सच को उजागर करती हैं जिसे अक्सर हम आधुनिकता के चमकदार पर्दे के पीछे छिपा देते हैं। जैसा कि इस शोध में रेखांकित किया गया है, वृद्धों का संघर्ष केवल आर्थिक नहीं है, बल्कि यह एक 'मानवीय अत्याचार' है। गजाधर बाबू का अपनी ही पत्नी और बच्चों के बीच एक अजनबी की तरह जीना यह सिद्ध करता है कि जब तक व्यक्ति 'पैसे की मशीन' बना रहता है, वह पूजनीय है, किंतु सेवानिवृत्ति के बाद वह केवल एक 'फालतू सामान' बन जाता है।

ये बात अत्यंत मार्मिक है कि आज की युवा पीढ़ी अपने बुजुर्गों को 'स्टेटस' की कसौटी पर तौलती है। जिस नींव (माता-पिता) पर उनकी पहचान खड़ी है, उसी नींव को वे दुनिया के सामने लाने में शर्म महसूस करते हैं। यह

समाज पर एक करारा तमाचा है कि बुजुर्ग अपने ही घर के किसी कोने में सिसक कर रोते हैं और बाहर अपने बच्चों की 'इज्जत' बचाने के लिए सफेद झूठ बोलते हैं। यह 'सफेद झूठ' वास्तव में उनके आत्म-सम्मान की अंतिम लड़ाई है। जब यह पीड़ा असहनीय हो जाती है, तो समाज उन्हें आत्महत्या या मानसिक मृत्यु की ओर धकेल देता है, जिस पर खुलकर बात करना आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। गजाधर बाबू का चुपचाप बिस्तर बाँधकर 'वापसी' (घर छोड़ना) कर लेना, उनकी पराजय नहीं बल्कि उनके स्वाभिमान का अंतिम विद्रोह है। जब तक परिवार बुजुर्गों को 'सामान' के बजाय 'अनुभव का खजाना' नहीं मानेगा, तब तक गजाधर बाबू जैसे पात्रों का निर्वासन जारी रहेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. प्रियंवदा, उषा. वापसी (कहानी संग्रह). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2015. (पृष्ठ 12, 15, 18, 22).
2. साहनी, भीष्म. प्रतिनिधि कहानियाँ (चीफ़ की दावत). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2012. (पृष्ठ 54, 56, 58).
3. प्रेमचंद. मानसरोवर (भाग-1) (बूढ़ी काकी). इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010. (पृष्ठ 82, 85, 88).
4. अमरकांत. दोपहर का भोजन (प्रतिनिधि कहानियाँ). दिल्ली: किताबघर प्रकाशन, 2011. (पृष्ठ 40, 42, 45).
5. पांडेय, मैनेजर. हिंदी कहानी: संवेदना और शिल्प. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2014.
6. राय, गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2011.
7. सोबती, कृष्णा. ऐ लड़की. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2005.
8. सिंह, नामवर. कहानी: नयी कहानी. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2012.
7. मिश्र, रामदरश. हिंदी कहानी: अंतरंग पहचान. दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2008.
8. तिवारी, रामचंद्र. हिंदी का गद्य साहित्य. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2015.
9. शर्मा, रामविलास. प्रेमचंद और उनका युग. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2010.
10. उपाध्याय, विश्वंभरनाथ. समकालीन कहानी के समाजशास्त्रीय आयाम. दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2009.